सामयिक पाठ

रचयिता

कवि हृदय सिद्धान्तज्ञ आचार्य विनम्रसागर

कृति :

सामयिक पाठ

शुभाशीष : जैनाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज

पद्यानुवाद रचयिता

प्रखर वक्ता आचार्य विनम्रसागर

सम्पादन

श्रमणी आर्यिका संघ (संघस्थ)

प्रथमावृत्ति : 2200 प्रति सत्र 2007 जयपुर

प्राप्ति स्थान

सम्यग्ज्ञान विराग विद्यापीठ, भिण्ड

देवेन्द्र जैन, बड़ी बजरिया, बीना (☎07580-223344)

सीपुर समता तीर्थ धाम, सीपुर 9828613614

कम्प्यूटर डिजाइन एवं मुद्रक - मुकेश जैन 9414555103

आर्यन् एजेन्सीज्

इन्दिरा बाजार, अजमेरी गेट, जयपुर (अजमेर-राज.)

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

पुनः प्रकाशन हेतु व्यवस्था राशि - 15/-रु.मात्र

हमारी नजर में अनूठा व्यक्तित्व

आचार्य श्री विनम्रसागरजी महाराज का

प्रखर बुद्धि व श्रेष्ठ प्रतिभा के धनी परम पूज्य आचार्य श्री विनम्रसागर जी महाराज ने जन्म से ही प्रतिभा को अभिव्यक्त किया 5 वर्ष की उम्र में आप तीसरी क्लास में पढ़ते थे। पढ़ने में हमेशा अव्वल रहे मात्र 20 वर्ष की उम्र में (1984 में) आपकी एक विद्यालय में गवर्मेण्ट सर्विस लग गई थी 1986 में आपने एमक़ॉम. जिला टॉप (दो विषय में विशेष योग्यता) प्राप्त करके प्रोफेसर पद के लिए तैयारी कर ली थी लेकिन एमक़ॉम करने के बाद वही हुआ जो पुरूषार्थ लिखता है विधि ने वैराग्य की ओर मोड़ दिया और फिर विरक्त होकर सर्विस की तथा 8 अगस्त 1992 को सर्विस त्याग कर दी और 9 अगस्त 1992 को ऐलक बन गये तथा 8 जून 2003 को ललितपुर में मुनि दीक्षा प्राप्त की व 12 दिसम्बर 2010 को बांसवाड़ा (राज.) में आचार्य पदारोहण हुआ।

आचार्यश्री ने चारों अनुयोगों का विशेष अध्ययन किया आपके पिताजी प्रकाण्ड विद्वान थे उन्होंने भी मुनि दीक्षा प्राप्त करके सन् 2002 में बीना (म.प्र.) में समाधि प्राप्त की। विशेषता ये कि अपने पिता की समाधि उन्हीं के पुत्र आचार्य श्री ने कराई। न्यायशास्त्र, नयशास्त्र, आध्यात्मिक शास्त्र व सिद्धान्त ग्रंथों का गुरुमुख से अध्ययन करके हर बात पर मंथन किया। आचार्य श्री जैसी विचक्षण कला वर्तमान में किसी विरले ही साधु में देखने को मिलती है वह है काव्य शैली की कला हर काव्य पर लिखने का अधिकार रखने वाले धर्म की बात को व्यक्ति के जेहन में उतार देते है आचार्य श्री की आवाज में ही संगीत निकलता है सभी आगम के ज्ञान के साथ काव्यकला होते हुए श्रेष्ठ प्रवचन शैली एवं निर्दोष चर्या का पालन आचार्य श्री का आकर्षक चुम्बकीय व्यक्तित्व है।

'' जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि'' लेकिन आचार्य श्री की बात है ''जहाँ न पहुँचे कवि वहाँ पहुँचे अनुभवी'' हर बात को अनुभव की कसौटी पर परखकर स्वीकार करने वाले हमेशा आगम की बात को ही श्रद्धान करने वाले, जिनकी भाषा शैली विवादों से रहित, पंथों से दूर केवल वीतरागी और निर्ग्रन्थ भाषा को अभिव्यक्त करती है बोलने वाले, जैन धर्म के मूलग्रंथ श्री धवलाजी, जय धवलाजी, महाधवलाजी का गुरूमुख से अध्ययन करने वाले करणानुयोग पर प्रकाण्ड विद्वत्तता रखने वाले पपू.आचार्य श्री

के ऊपर लोगों ने पी.एच.डी.करने को कहा तो आचार्य श्री ने उस समय मना कर दिया क्यूँकि उस समय मुनिश्री, ऐलक थे (सन् 1996 में) काव्य क्षेत्र में लगभग 800 कविताएँ, 500 भजन, 300 गज़लें, 2000 मुक्तक, 2000 पहेलियाँ (पद्य में) दस तरह का हिन्दी में भक्तामर पद्यानुवाद, जीवन चलती साँस यहाँ, जीवन जलता दिया यहाँ, गुरु चरणों की धूल यहाँ, जीवन है पानी की बूँद आदि दस तरह के ऐसे गीतों पर लगभग 800 छंद लिख चुके है जो पूरे भारत में प्रसिद्ध हो चुके है हर संगीतकार एवं साधु साध्वी जिन्हें गाकर व सुनकर स्वयं को गौरवान्वित महसूस करते है एवं सभी स्तुतियों के पद्यानुवाद, कई पूजायें व कई ग्रंथों के पद्यानुवाद किये है आचार्यश्री ने णमोकार महामंत्र को अंग्रेजी में ऐसा लिखा है जिसे णमोकार मंत्र की तरह गाया जाता है एवं उसकी महिमा भी अंग्रेजी में गीत की तरह लिखी है वीतराग स्तोत्र एवं कई भजन भी अंग्रेजी में लिखे एवं 5 पुस्तकें भी अंग्रेजी में लिखी है।

आचार्य श्री के मामाजी कलेक्टर और प्रोफेसर है चाचाजी डॉक्टर और बैंक ऑफिसर है जीजाजी अनुसंधान अधिकारी दिल्ली एवं कई भाई सर्विस में है लेकिन आचार्य श्री का पूरा खानदान सोनगढ़ परम्परा का है केवल आचार्य श्री के परिवार को छोड़कर।

आचार्य श्री का संस्कृत भाषा पर अच्छा वर्चस्व है शब्द विज्ञान जिन्होंने आत्मसात् किया है हिंन्दी-अंग्रेजी, उर्दू, प्राकृत, संस्कृत और ज्योतिष भाषा का ज्ञान रखने वाले गुरूदेव ने कई पुस्तकों को लिखा है आकर्षक शैली वर्तमान परिवेश को प्रभावित करने वाली है। आचार्य श्री से प्रभावित होकर कई लोग दीक्षा ले चुके है और कई लोग ब्रह्रत लेकर साधनारत है।

आचार्यश्री के सभी वर्षायोग ऐतिहासिक रहे है लेकिन 2016 का फिरोजाबाद में होने वाला वर्षायोग स्वर्ण अक्षरों से लिखा जाने वाला है उसकी स्मृतियाँ व्यक्ति जीवन भर तक स्मरण करता ही रहेगा आचार्य श्री के भक्तामर शिविर और प्रवचन शैली की अनूठी मिशाल है हमारी समाज उनके चरणों में नममस्तक होती हुई आचार्य श्री के रत्नत्रय की उत्तरोत्तर वृद्धि की शुभकामना करती है और मन वचन काय से त्रिबार नमोऽस्तु करती है।

मुनि सेवा समिति फिरोजाबाद (उ.प्र.)

मुझे कुछ कहना है

समता भाव में रमने के लिये और जीवन धारा को आमूल चूल बदलने के लिये सामायिक सबसे बेहतरीन तरीका है नया चिंतन और उस पर मंथन के बाद संवेदन सामायिक का फल है इसीलिये सामायिक करने वाले, हर बात को अपने ऊपर उतारकर देखते है जिससे उनके वचन अकाट्य सत्यता को लिये होते है। सामायिक में लीन रहने वाले के अनुभव संतों जैसे निर्विकल्प हुआ करते है। जिसमें सिद्धांत - न्याय - नय - व्यवहार - निश्चय व शुद्धोपयोग का समावेश रहता है। सामायिक की गहनता के बिना संत होना शोभनीय नही है। इसके विंशेष चिंतनरुप छंदों को पपूज्य आचार्य श्री अमितगतिजी द्वारा रचा गया है जो हर श्रावक व साधु के लिये अजर - अमर होने की औषधि है।

यह सामायिक पाठ की पुस्तक के लिये मुझे गुरूदेव की शुभाशीष रुप प्रेरणा मिली उनके आशीर्वाद से हमें उसके पद्यानुवाद करने की क्षमता उपलब्ध हुई। यह पुस्तक सभी प्राणियों के लिये सामायिक करने में बहुत उपयोगी सिद्ध हो और सभी को धर्मवृद्धि रुप वैराग्य का कारण बने, ऐसी भावना को रखते हुये गुरूदेवे के चरणों में त्रयभक्ति युत् विनम्र नमोऽस्तु-3

Acharya Vinamra Sagar

आचार्य श्री विनम्रसागर जी महाराज

के गृहस्थ जीवन के पिता श्री का परिचय

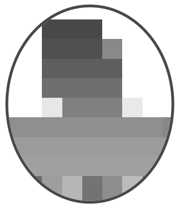

समाधिस्थ

मुनि श्री विश्वकीर्तिसागर जी

मुनि श्री का जन्म श्रावण सुदी 6 संवत् 1986 को भिण्ड में हुआ तथा दीक्षा 08 फरवरी सन् 1996 को द्रोणगिरि में हुई। 06 वर्ष आध्यात्मिक साधना करते हुए 18 सितम्बर सन् 2002 को बीना वर्षायोग में उत्तमत्याग के दिन समाधि को प्राप्त हुए

सामायिक कृत्य प्रतिज्ञा

नमोऽस्तु भगवन! देव वन्दनां करिष्यामि

(इति सामायिक स्वीकार)

सिद्धं सम्पूर्ण - भव्यार्थ सिद्धेः कारण मुत्तमम् ।
प्रशस्त - दर्शन - ज्ञान - चारित्र - प्रतिपादनम् ।।1।।

सुरेन्द्र - मुकुटाश्लिष्ट - पाद - पदमांशु - केशरम् ।
प्रणमामि महावीरं लोक - त्रितय मंगलम् ।। 2 ।।

(सामायिक स्वीकार)

खम्मामि सव्व - जीवाणं, सव्वे जीवा खमन्तु मे ।
मित्ती मे सवव - भूदेसु वैरं मज्झं ण केणवि ।।1 ।।

राय - बंध - पदोसं च हरिसं दीणं - भावयं ।
उस्सुगत्तं भयं सोगं, रदि - मरदिं च वोस्सरे ।।2 ।।

हा ! दुट्ठ - कयं हा! दुट्ठ - चिंतियं भासियं च हा! दुट्ठं
अंतो अंतो डज्झमि पच्छत्तावेण वेयंतो ।। 3 ।।

दव्वे खेत्ते काले भावे य कदा - वराह - सोहणयं ।
णिंदण-गरहण-जुत्तो, मण-वच-काएण पडिक्कमणं ।।4 ।।

समता सर्व - भूतेषु संयमः शुभ भावना ।
आर्त्त - रौद्र - परित्याग - स्तद्धि सामायिकं मतं ।। 5 ।।

अथ कृत्य - विज्ञापना

भगवन्! नमोस्तु प्रसीदन्तु, प्रभु - पादा - वंदिष्येऽहं।
एषेऽहं सर्व - सावद्य - योगाद् - विरतोऽस्मि ।

ऐसे भाव धारूँ

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा-परत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीत वृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव ! ॥1॥

: अन्वयार्थ :

देव! = हे भगवान्!, **मम–आत्मा** = मेरी आत्मा, **सदा** = सदा, **सत्त्वेषु** = सभी प्राणियों पर, **मैत्रीम्** = मैत्री भाव को, **गुणिषु** = गुणी जनों पर, **प्रमोदम्** = प्रमोद भाव को, **क्लिष्टेषु–जीवेषु** = दु:खी जीवों पर, **कृपा–परत्वम्** = करुणा भाव को और, **विपरीत–वृत्तौ** = विपरीत वृत्ति वालों पर, **माध्यस्थ्य–भावम्** = माध्यस्थ भाव को, **विदधातु** = धारण करे।

भावार्थ

हे जिनेन्द्र ! मेरा सब प्राणियों पर सदा मैत्री भाव रहे, गुणीजनों को देखकर प्रमोद (हार्दिक स्नेह) भाव उत्पन्न हो, दु:खी जीवों पर करुणा भाव रहे और विपरीत आचरण वालों पर माध्यस्थ (उपेक्षा) भाव रहे, इस प्रकार ये चारों भाव मैं धारण करूँ।

पद्यानुवाद

मित्र हों सर्वप्राणी, रहूँ मित्र मैं,
दीन पर हो दया, मोद गुण में हमें।
धारणा झूठ हो उनसे माध्यस्थ हों,
भाव ऐसे हमेशा मेरे चित्त हों ॥1॥

सबसे रहे मित्रता मेरी, गुणीजनों से होय लगाव,
दु:खीजनों पर करुणाधरिके उन पर हो सेवामय भाव।
जिन–गुरु की जो बात न मानें, उनसे हो माध्यस्थ स्वभाव।
प्रतिदिन ऐसी करूँ भावना, पाने भगवन् चेतन भाव ॥1॥

द्वैत से अद्वैत की ओर

शरीरतः कर्त्तुमनन्त - शक्तिं,
विभिन्नमात्मान मपास्त - दोषम्।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्ग - यष्टिं,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥2॥

: अन्वयार्थ :

जिनेन्द्र! = हे जिनेन्द्र देव!, **कोषात्** = म्यान से, **खड्ग– यष्टिम् इव** = तलवार के समान, **अनन्त–शक्तिम्** = अनन्त शक्ति वाले, **अपास्त–दोषम्** = सर्व दोषों से रहित, **आत्मानम्** = अपनी आत्मा को, **शरीरतः** = शरीर से, **विभिन्नम्** = पृथक्, **कर्त्तुम्** = करने के लिये, **तव प्रसादेन** = आपके प्रसाद से, **मम शक्तिः** = मेरी शक्ति, **अस्तु** = हो।

भावार्थ

हे जिनेन्द्र प्रभो ! आपके प्रसाद से मुझे ऐसी शक्ति प्राप्त हो जिसके द्वारा मैं अनंत शक्तिशाली एवं समस्त दोषों से रहित अपनी आत्मा को शरीर से इस तरह अलग कर सकूँ जैसे कोई म्यान से तलवार को निकाल कर अलग कर देता है।

पद्यानुवाद

दोषमय आतमा मिल गई अंग से,
अंग से दूर करना परम ढंग से।
शक्ति ऐसी हमें दीजिये हे प्रभो!,
म्यान से खड्ग ज्यों भिन्न करते विभो! ॥2॥

शक्ति अनंत भरी आतम में, मिली दोषकर इस तन से,
अपने गुण को प्रतिदिन चाहूँ, करूँ भाव अन्तरमन से।
ऐसी शक्ति हमें दो भगवन्! दूर, करूँ तन आतम से,
जैसे खड्ग म्यान से करते अलग स्वयं की शक्ति से ॥2॥

हमेशा हो समता भाव

दुःखे - सुखे वैरिणि - बन्धुवर्गे,
योगे - वियोग भवने - वने वा।
निराकृताशेष - ममत्वबुद्धेः,
समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ! ॥3॥

: अन्वयार्थ :

नाथ! = हे स्वामिन्!, **निराकृताशेष** = समस्त पर पदार्थों से, **ममत्वबुद्धेः** = ममत्व बुद्धि को दूर कर दिया जिसने ऐसा, **मे मनः** = मेरा मन, **दुःखे सुखे** = दुःख में, सुख में, **वैरिणि** = शत्रु में, **बन्धु–वर्गे** = बन्धु वर्ग में, **योगे वियोगे** = संयोग में, वियोग में, **भवने वने वा** = भवन में और वन में, **सदापि** = सदा ही, **समम् अस्तु** = समान हो।

भावार्थ

हे सम्पूर्ण ममता से रहित जिनेन्द्र प्रभु! मेरा मन दुःख में – सुख में, शत्रु एवं मित्रों में अनिष्ट संयोग और इष्टवियोग में, वन में व भवन में, राग – द्वेष से रहित होकर सदा समता भाव धारण करे।

पद्यानुवाद

वन-भवन, शत्रु-मित्र सुखों-दुक्ख में,
छूटने और मिलने में समता लहें।
हे प्रभु! भाव ऐसे हमेशा रहें,
भाव ममता के मेरे कभी ना रहें ॥3॥

दुख में सुख में, शत्रु मित्र में, मिलने और बिछुड़ने में,
वन में और भवन में मेरे, हर्ष न खेद रहे मन में।
ऐसी समता उर हो भगवन्! करूँ प्रार्थना चरणों में,
भवमय ममता कुमति बढ़ाती, उससे दूर रहूँ नित मैं ॥3॥

द्वय चरण हों हृदय में

मुनीश! लीनाविव कीलिताविव,
स्थिरौ निषाताविव बिम्बिताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा,
तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव ॥4॥

: अन्वयार्थ :

मुनीश! = हे मुनीश्वर!, **तमः** = अन्धकार के, **धुनानौ** = विनाशक, **दीपकौ इव** = दो दीपकों के समान, **त्वदीयौ पादौ** = आपके दोनों चरण, **मम हृदि** = मेरे हृदय में, **लीनौ इव** = लीन हो गये के समान, **कीलितौ इव** = कीलित हुए के समान, **स्थिरौ (इव)** = स्थिर हो गये के समान, **निषातौ इव** = उत्कीर्ण कर दिये गए के समान, **बिम्बितौ इव** = प्रतिबिम्बित के समान, **सदा** = सदा, **तिष्ठाम्** = विराजमान रहें।

भावार्थ

हे मुनियों के ईश! अज्ञान या मोह रूपी अंधकार को नष्ट करने वाले आपके दोनों चरण कमल मेरे मन मन्दिर में लीन हुए के समान, दीपक के समान, तथा पत्थर पर उत्कीर्ण (उकेरे) किये के समान अथवा प्रतिबिम्ब/मूर्ति की तरह सदा सदा के लिए विराजमान रहें।

पद्यानुवाद

आपके द्वय चरण् बिम्ब से हों हृदय,
लीन हो, कील हो मम हृदय पाद द्वय।
हैं मिटाते जले दीप भव घोर तम,
आपको हे प्रभो! चाहते उर में हम ॥4॥

जैसे अतिशय अंधकार को, दीपक कर देता है दूर,
वैसे हे प्रभु! चरण कमल तव, मिथ्याज्ञान करें सब दूर।
लीन रहूँ नित निज में रमने, ध्याऊँ सदा तुम्हें भगवान्,
तेरे पद को कीलित उर में करके, तेरा करता ध्यान ॥4॥

मेरा प्रमाद हो मिथ्या

एकेन्द्रियाद्या यदि देव! देहिनः,
प्रमादतः सञ्चरता यतस्ततः।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडितास्,
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ॥5॥

: अन्वयार्थ :

देव! = हे देव!, **प्रमादतः** = प्रमाद से, **यतस्ततः** = इधर उधर, **सञ्चरता (मया)** = संचरण करते हुये मेरे द्वारा, **यदि** = यदि, **एकेन्द्रियाद्याः** = एकेन्द्रिय आदि, **देहिनः** = प्राणी, **क्षता** = विनष्ट हुए हों, **विभिन्ना** = छिन्न भिन्न कर दिये गये हों, **मिलिता** = परस्पर में मिला दिये गये हों या, **निपीडिताः** = पीड़ित किये गये हों, **तदा तत् (मे)** = जो वह मेरा, **दुरनुष्ठितम्** = दुराचरण–पाप, **मिथ्या अस्तु** = मिथ्या (निष्फल) हो

भावार्थ

हे देव! यदि प्रमाद से इधर उधर चलते हुए मेरे द्वारा एकेन्द्रिय आदि जीवों को क्षत–विक्षत किया गया हो, या अपने समूह से अलग कर दिया हो, या दूसरे समूह में मिया दिया गया हो, तो मेरा वह दुष्कृत्य मिथ्या हो, निष्फल हो।

पद्यानुवाद

एक द्वय तीन चउ पाँच इन्द्रिय प्रभो!
गर प्रमाद से चलते मरे हों विभो!।
चोट खाये कभी भिन्न पीड़ित हुए,
झूठ हों, वे चरण भूल से हो गये ॥5॥

एक इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक देह धरें भव में सब जीव,
मेरे ही प्रमाद के कारण, पीड़ित चोटिल हुए कदीव।
टुकड़े अथवा रगड़ गए हों, मिथ्या हों वे सभी चरण,
अन्तरभाव शुद्ध करने को करूँ रोज मैं प्रतिक्रमण ॥5॥

मेरा दुष्कर्म हो मिथ्या

विमुक्तिमार्ग- प्रतिकूल वर्तिना,
मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया।
चारित्र शुद्धेर्यदकारि लोपनं,
तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो! ॥6॥

: अन्वयार्थ :

प्रभो! = हे नाथ!, **विमुक्तिमार्ग** = मोक्षमार्ग के, **प्रतिकूल** = प्रतिकूल, **वर्तिना** = आचरण करने वाले, **दुर्धिया** = दुर्बुद्धि से, **मया** = मेरे द्वारा, **कषायाक्ष वशेन** = कषाय और इन्द्रियों के वश होकर, **चारित्र–शुद्धेः** = चारित्र की शुद्धि का, **यत् लोपनम्** = जो विलोप, **अकारि** = किया गया हो, **मम** = मेरा, **तत् दुष्कृतं** = वह दुष्कृत, **मिथ्या** = मिथ्या, **अस्तु** = हो।

भावार्थ

विषय और कषायों के वश होकर हे स्वामिन्! मोक्षमार्ग के प्रतिकूल–आचरण करके मैंने यदि चारित्र की शुद्धि का लोप किया हो तो वह दुष्कृत्य मेरा मिथ्या हो।

पद्यानुवाद

आपका रास्ता छोड़कर हम चले,
अक्ष-मन के विषय में पले हैं ढले।
शुद्ध चारित्र का लोप गर हो गया,
झूठ हो कर्म वो दो हमें प्रभु दया ॥6॥

इन्द्रिय के विषयों में फँसकर चार कषायों को पाया,
पथ हमने प्रतिकूल पकड़कर, मुक्तिपथ नहिं अपनाया।
इसके वश चारित्र हमारा लोप हुआ, सुख हुआ हनन्,
ऐसा वह दुष्कर्म हमारा मिथ्या होवे हे भगवन् ॥6॥

भस्म करता हूँ पाप

विनिन्दनालोचन - गर्हणैरहं,
मनोवचः कायकषाय - निर्मितम्।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं,
भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम् ॥7॥

: अन्वयार्थ :

भिषक् = वैद्य, **मंत्र–गुणैः** = मंत्र गुणों के द्वारा, **अखिलं विषम् इव** = जैसे समस्त विष को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार, **अहम्** = मैं, **विनिन्दनालोचन** = निन्दा, आलोचना और, **गर्हणैः** = गर्हा के द्वारा, **मनो वचः काय** = मन वचन काय और, **कषाय निर्मितम्** = कषाय से उपार्जित, **भव दुःख कारणम्** = संसार के दुःखों के कारणभूत, **पापम्** = पाप को, **निहन्मि** = नष्ट करता हूँ।

भावार्थ

भावार्थ – हे भगवन्! मैने मन, वचन, काय और कषायों द्वारा संसार दुःख के कारण भूत जो पाप किये हैं उसे मैं आत्मनिंदा गर्हा और आलोचना द्वारा उसी प्रकार से नष्ट करता हूँ जिस प्रकार वैद्य मंत्रों के द्वारा समस्त विष को नष्ट कर देता है।

पद्यानुवाद

अक्ष चारों कषायों से जो पाप है,
बन गया वो हमें रोग भव ताप है।
करके आलोचना-निंदा-गर्हा करूँ,
मंत्र से दूर विष वैद्य करता, वरूँ ॥7॥

चार कषायों त्रय योगों से मुझसे हुए महातम पाप,
इसीलिए हे नाथ! जगत में उपजा है हमको संताप।
निंदा–गर्हा–आलोचन करि सभी मारता हूँ भवताप,
जैसे वैद्य सभी विष मारे करके शुभ मंत्रों का जाप ॥7॥

चाहता हूँ शुद्धता

अतिक्रमं यद् विमते-र्व्यतिक्रमं,
जिनातिचारं सुचरित्र कर्मणः।
व्यधा - मनाचार - मपि प्रमादतः,
प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये ॥8॥

: अन्वयार्थ :

जिन! = हे जिनेन्द्र भगवन्!, **(अहम्)** = मैंने, **सुचरित्रकर्मणः** = उत्तम चारित्र के अनुष्ठान का, **प्रमादतः** = प्रमाद से (युक्त), **विमतेः** = दुर्बुद्धि द्वारा, **यत्** = जो, **अतिक्रम्** = अतिक्रम, **व्यतिक्रमम्** = व्यक्ति क्रम, **अतिचारम्** = अतिचार और, **अनाचारम् अपि** = अनाचार भी, **व्यधाम्** = किया हो, **तस्य** = उसकी, **शुद्धये** = शुद्धि के लिये, **प्रतिक्रमम्** = प्रतिक्रमण, **करोमि** = करता हूँ।

भावार्थ

भावार्थ – हे जिनेन्द्र देव! ग्रहण किये चारित्र के पालने में जो मैंने प्रमाद से अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार किया है उसे दूर कर चारित्र की शुद्धि के लिए मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

पद्यानुवाद

शुद्ध चारित्र का गर अतिक्रम हुआ,
औ व्रतों में प्रमाद व्यतिक्रम हुआ।
अति-अनाचारमय गर हुआ आचरन्,
शुद्ध होने प्रभो! कर रहा प्रतिक्रमण ॥8॥

शुद्ध चरित का मुझसे भगवन् हुआ अतिक्रम धरि अज्ञान,
हुआ व्यतिक्रम आलस पाकर, जो बतलाया दुख की खान।
अनाचरण अतिचार कभी भी मुझसे हुए अगर भगवान्,
सभी मलिनता मैंटन को मैं करता प्रतिक्रमण दिन–शाम ॥8॥

दूर होवे व्रतोल्लंघन

क्षतिं मनः शुद्धिविधेरतिक्रमं,
व्यतिक्रमं शील - व्रतेर्विलंघनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं,
वदन्त्यनाचार-मिहातिसक्तताम् ॥9॥

: अन्वयार्थ :

प्रभो! = हे प्रभो!, **इह** = इस लोक में, **(ज्ञानिनः)** = ज्ञानीजन, **मनः शुद्धि विधेः** = मन की शुद्धि विधि (रीति) के, **क्षतिम्** = विनाश को, **अतिक्रमम्** = अतिक्रम, **शीलव्रतेः** = शील की बाड़ के, **विलंघनम्** = उल्लंघन को, **व्यतिक्रमम्** = व्यतिक्रम, **विषयेषु** = विषयों में, **वर्तनम्** = प्रवर्तन को, **अतिचारम्** = अतिचार और, **अतिसक्तताम्** = अति आसक्ति को, **अनाचारम्** = अनाचार, **वदन्ति** = कहते हैं।

भावार्थ

भावार्थ – हे प्रभो! मन शुद्धि के विनाश को अतिक्रम, व्रत की मर्यादा के उल्लंघन को व्यतिक्रम, इन्द्रिय विषय सेवन को अतिचार तथा आसक्ति पूर्वक विषय सेवन को अनाचार कहा है।

पद्यानुवाद

शुद्धि मन की मिटे तो अतिक्रम कहा,
शीलव्रत का विलंघन व्यतिक्रम कहा।।
और अतिचार विषयों में रमना प्रभो।
है अनाचार अत्यन्त रमना विभो ॥9॥

मन की निर्मलता मिट जाये, उसे अतिक्रम कहते हैं,
शीलव्रतों का करे उलंघन उसे व्यतिक्रम कहते हैं।
जब विषयों में करे प्रवर्तन उसे कहें जिनवर अतिचार,
अति आसक्त रहे विषयों में उसको कहें महानाचार ॥9॥

केवल ज्ञान प्राप्त हो शारद माँ

यदर्थमात्रा - पदवाक्यहीनं,
मया प्रमादाद्यदि किञ्चनोक्तम्।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी,
सरस्वती केवलबोध लब्धिम् ॥10॥

: अन्वयार्थ :

मया = मेरे द्वारा, **प्रमादात्** = प्रमाद से, **यदि** = यदि, **अर्थ–मात्रा–पद–वाक्य** = अर्थ, मात्रा, पद और वाक्य से, **हीनम्** = हीन, **यत्** = जो, **किञ्चन** = कुछ, **उक्तम्** = कहा गया हो तो, **मे** = मेरे, **तत्** = उस (अपराध को), **क्षमित्वा** = क्षमा करके, **सरस्वती देवी** = सरस्वती देवी, **केवलबोध–लब्धिम्** = केवलज्ञान रूप लब्धि को, **विदधातु** = प्रदान करें।

भावार्थ

भावार्थ – मैंने प्रमाद से यदि अर्थ, मात्रा, पद और वाक्य से कुछ हीन कहा हो तो, हे सरस्वती देवी! मेरे उस अपराध को क्षमा कर मुझे केवल ज्ञान रूपी लब्धि दें।

पद्यानुवाद

वाक्य मात्रा व पद अर्थ में त्रुटि हुई,
भूल से हो गई जानकर ना हुई।
शारदे माँ! उसे शीघ्र कर दो क्षमा,
ज्ञान केवल हृदय में दिला दो महां ॥10॥

मात्रा–अर्थ वाक्य पद में यदि हमसे त्रुटि हो गई कहीं,
ऐसी भूल हुई प्रमाद से हमने जाना उसे नहीं।
शारद देवी! क्षमा करो सब वरो हमें शुभ केवलज्ञान,
जिनवाणी को हृदय धरूँ मैं देना माँ ऐसा वरदान ॥0॥

शिवसुख प्राप्त हो शारद माँ

बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः,
स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः।
चिन्तामणिं चिन्तित वस्तुदाने,
त्वां वन्दमानस्य ममास्तु देवि! ॥11॥

: अन्वयार्थ :

देवि! = हे सरस्वती देवि!, **चिन्तित–वस्तु दाने** = मनवांछित वस्तु के देने में, **चिन्तामणिम्** = चिन्तामणि रत्न के समान, **त्वाम्** = आपको, **वन्दमानस्य मम** = वन्दन करने वाले मुझे, **बोधिः** = बोधि, **समाधिः** = समाधि, **परिणाम–शुद्धिः** = परिणामों की शुद्धि, **स्वात्मोपलब्धिः** = अपने आत्म स्वरूप की प्राप्ति, **(च)** = और, **शिवसौख्यसिद्धिः** = शिव–सौख्य– सिद्धि, **अस्तु** = हो।

भावार्थ

भावार्थ – हे सरस्वती देवि! आप मनोवांछित वस्तु को देने के लिए चिन्तामणि के समान हैं अतएव आपकी वन्दना करने वाले मुझको बोधि, समाधि, परिणामों की शुद्धि अपने आत्म स्वरूप की उपलब्धि और मुक्ति के सुख की सिद्धि आपके प्रसाद से प्राप्त हो।

पद्यानुवाद

बोधि-शुद्धि-समाधि मिले मुक्ति मम्,
चेतना प्राप्त हो दूर हों रोग गम्।
आप चिंतामणि वस्तु दाता परम्,
शारदे माँ! तुम्हें है 'विनम्र' नमन् ॥11॥

बोधि–समाधि भाव विशुद्धि आतम की उपलब्धि महान्,
शिवसुख सिद्धी दे शारद माँ भविजन का करती कल्याण।
तुम हो चिंतित वस्तु प्रदाता चिंतामणि है तेरा नाम,
मेरे उर में रहो हमेशा देवी तुम्हें 'विनम्र' प्रणाम ॥11॥

हे प्रभु! वास करो उर में

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैर्,
यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥12॥

: अन्वयार्थ :

यः = जो, **सर्व मुनीन्द्र–वृन्दैः** = सभी मुनिराजों के समूह द्वारा, **स्मर्यते** = स्मरण किया जाता है, **यः** = जो, **सर्व नरामरेन्द्रैः** = सभी नरेन्द्रों से, **स्तूयते** = स्तुत किया जाता है, **यः** = जो, **वेद–पुराण शास्त्रैः** = वेदों, पुराणों और शास्त्रों के द्वारा, **गीयते** = गाया जाता है, **सः** = वह, **देव–देवः** = देवाधिदेव (अर्हन्त), **मम हृदये** = मेरे हृदय में, **आस्ताम्** = विराजमान रहे।

भावार्थ

भावार्थ – जिसे सर्व मुनिराज सदा स्मरण करते हैं, जिसका सर्व इन्द्र नरेन्द्र और धरणेन्द्र स्तवन करते हैं और जिसका वेद – पुराण और शास्त्र गुणगान करते हैं वह देवाधिदेव मेरे हृदय में सदा विराजमान रहे।

पद्यानुवाद

योगियों ने सदा याद जिनको किया,
देव-नर-इन्द्र ने गान जिनका किया।
वेद शास्त्र जिन्हें नित्य गाते रहे,
वो परम देव मेरे हृदय में रहे ॥12॥

सभी मुनीनायक गण वन्दें, जिन्हें स्मरण करें सदा,
सभी देव–नर–इन्द्र करें थुति, भक्ती उर में धरें सदा।
गीता वेद पुराण सभी श्रुत गाते हैं जिनका गुणगान,
उसी देव को प्रतिपल करता अपने हृदय कमल आह्वान् ॥12॥

हे प्रभु! रहो हृदय निवासी

यो दर्शनज्ञान सुखस्वभावः,
समस्त संसार विकारबाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥13॥

: अन्वयार्थ :

यः = जो, **दर्शन–ज्ञान** = अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान और, **सुख–स्वभावः** = अनन्त सुखरूप स्वभाव वाला, **समस्त–संसार** = संसार के समस्त, **विकार बाह्यः** = विकारों से रहित है, **समाधिगम्यः** = समाधि के गम्य है और, **परमात्मसंज्ञ** = परमात्मसंज्ञा का धारक है, **स देव–देवः** = वह देवों का देव, **मम हृदये** = मेरे हृदय में, **आस्ताम्** = विराजमान रहे।

भावार्थ

भावार्थ – जो अनन्त दर्शन ज्ञान और सुख स्वरूप स्वभाव वाला है, जो संसार के समस्त विकारों से रहित है जो समाधि के द्वारा ही अनुभवगम्य है और जिसे योगीजन परमात्मा कहते हैं वह देवाधिदेव मेरे हृदय में सदा विराजमान रहे।

पद्यानुवाद

ज्ञान-दर्शन-परम सुख स्वभाव परम्,
बाहरी दुखमयी हैं विकार व गम।
जानते, जो समाधिस्थ हैं जो प्रभो!,
देव का देव वो हो हृदय में विभो! ॥13॥

अंत रहित जो ज्ञान दरशमय, लीन सदा सुख रूप स्वभाव,
सभी विकार रहित हैं जिससे, दूर रहें संसारी भाव।
परम समाधि गम्य हुए जो परमातम है जिसका नाम,
उसी देव को हृदय कमल में रखता हूँ पाने शिवधाम ॥13॥

हे प्रभु! रहो सदा मम उर में

निषूदते यो भवदुःखजालं,
निरीक्षते यो जगदन्तरालम्।
योऽन्तर्गतो योगि निरीक्षणीयः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥14॥

: अन्वयार्थ :

यः = जो, **भवदुःखजालम्** = संसार के दुःख समूह को, **निषूदते** = नष्ट करता है, **यः** = जो, **जगदन्तरालम्** = जगत के अन्तराल (मध्यभाग) को, **निरीक्षते** = देखता है, **यः** = जो, **अन्तर्गतः** = अन्त स्थित है और, **योगि–निरीक्षणीयः** = योगीजनों के द्वारा अवलोकनीय है, **स, देव–देवः** = वह देवों का देव, **मम हृदये** = मेरे हृदय में, **आस्ताम्** = विराजमान रहे।

भावार्थ

भावार्थ – जो संसार दुख जाल को काटते हैं, जो जगत के अन्तराल को अर्थात् सम्पूर्ण लोक को जानते और देखते हैं और जो योगीजनों द्वारा जाने जाते हैं वह देवाधिदेव मेरे हृदय में सदा विराजमान रहे।

पद्यानुवाद

देखता जो सभी द्रव्य की चाल को,
काट देता सभी कर्म के जाल को।
लोक के अंत में योगियों को दिखे,
वो परमदेव मेरे हृदय में रहे ॥14॥

बहुविध दुख के जाल जगत में, काट उन्हें सब देता है,
जो इस जग की अन्तर चालें, चेतन से लख लेता है।
ऋषिजन ऐसे तुम्हें देखते, जो अन्तर में करें गमन,
वही देव मम अंतरमन का रहे निवासी शुभम् स्वयम्॥14॥

हे प्रभु ! तेरा वास हो मेरे हृदय

विमुक्तिमार्ग प्रतिपादको यो,
यो जन्ममृत्यु व्यसनाद्यतीतः।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥15॥

: अन्वयार्थ :

यः = जो, **विमुक्ति–मार्ग** = मोक्षमार्ग का, **प्रतिपादकः** = प्रतिपादक है, **यः** = जो, **जन्म–मृत्यु** = जन्म मरणादि, **व्यसनात् विमुक्तः** = दुःखों से रहित है, **(यः)** = जो, **त्रिलोक–लोकी** = तीनों लोकों का अवलोकन कर्ता है, **विकलः** = शरीर रहित है, **अकलङ्कः** = कलंक रहित है, **स देव–देवः** = वह देवों का देव, **मम हृदये** = मेरे हृदय में, **आस्ताम्** = विराजमान रहे।

भावार्थ

भावार्थ – जो मोक्षमार्ग के प्रतिपादक हैं जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु इत्यादि दुःखों से रहित हैं, लोकालोक के ज्ञाता दृष्टा हैं, अशरीरी, कर्म कलंक से रहित हैं वह देवाधिदेव मेरे हृदय में सदा विराजमान रहे।

पद्यानुवाद

मुक्ति के मार्ग को जो बताता यहाँ,
जन्म के मृत्यु के दुख उसे हैं कहाँ?
लोक को जानते निष्कलंक परम्,
मम हृदय में रहे वो महादेव जिन् ॥15॥

दिखलाता जो शिव मारग को, चारित कथन प्रदाता है,
जनम मरन दुःख संदोहों से, दूर स्व–चेतन ज्ञाता है।
लोकालोक करें अवलोकन, कर्म कलंक रहित जिनदेव,
मेरे उर वह देव विराजे, करूँ हृदय से उनकी सेव ॥15॥

हे प्रभु ! मेरा उर हो, तेरा घर

क्रोडीकृताशेष - शरीरवर्गाः,
रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥16॥

: अन्वयार्थ :

अशेष = समस्त, **शरीर–वर्गाः** = प्राणी वर्ग को, **क्रोडीकृता** = व्याप्त करने वाले, **रागादयः दोषाः** = रागादिक दोष, **यस्य** = जिसके, **न सन्ति** = नहीं हैं, **स** = वह, **निरिन्द्रिय** = अतीन्द्रिय, **ज्ञानमयः** = ज्ञानमयी, **अनपायः** = अपाय रहित है, **सः** = वह, **देव–देवः** = देवों का देव, **मम हृदये** = मेरे हृदय में, **आस्ताम्** = विराजमान रहे।

भावार्थ

भावार्थ – समस्त प्राणीवर्ग को अपने आधीन करने वाला रागादि दोष जिनमें किंचित भी नहीं हैं, जो अतीन्द्रिय है, ज्ञानमयी हैं और सर्व अपायों से रहित है। वो देवाधि देव मेरे हृदय में सदा विराजमान रहे।

पद्यानुवाद

अक्ष का लेश ना राग-द्वेष कहीं,
सब जनों में रहें व्याप्त, मिलकर नहीं।
ज्ञानमय धर्ममय आतमा में रहे,
देव का देव वो मम हृदय में रहे ॥16॥

सभी प्राणियों ने अपनाया, करें हमेशा सब सम्मान,
राग द्वेष मद मोह न जिनके, गाते भव्यजीव गुणगान।
ज्ञानमयी जो नित्य निरंजन, इन्द्रिय का नहिं जिसके काम,
वही देव मम उर में राजे, लीन रहे जो केवल ज्ञान ॥16॥

हे देव! आ जाओ मम उर में

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः,
सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥17॥

: अन्वयार्थ :

यः = जो, **व्यापकः** = सर्वव्यापक है, **विश्वजनीन** = विश्व कल्याण करने का, **वृत्तेः** = स्वभाव वाला है, **सिद्धः** = सिद्ध है, **विबुद्धः** = ज्ञायक स्वभावी है, **धुत–कर्मबन्धः** = कर्म बन्धनों का विध्वंसक है, **ध्यातः** = ध्यान में चिन्तन किया गया, जो, **सकलम्** = समस्त, **विकारम्** = विकारी भावों को, **धुनीते** = नष्ट करता है, **स देव–देवः** = वह देवों का देव, **मम हृदये** = मेरे हृदय में, **आस्ताम्** = विराजमान रहे।

भावार्थ

भावार्थ – विश्व कल्याण की प्रवृत्ति जिनकी स्वाभाविक सहज हो चुकी है जो ज्ञेयापेक्षा सर्वव्यापी है, सिद्ध है, ज्ञायक स्वभावी है और सर्वकर्म बन्धनों से रहित है तथा जिसका ध्यान करने से हृदय के सर्व विकार दूर हो जाते हैं वह देवाधिदेव मेरे हृदय में सदा विराजमान रहे।

पद्यानुवाद

ज्ञान जिनका सभी लोक में व्याप्त है,
कर्मबंधन बिना, बुद्ध-शुद्धाप्त है
ध्यायें जिनको तभी पाप होते क्षरन्
देव का देव हो मम हृदय में परम् ॥17॥

भव की सकल वस्तु में जिसका, व्याप्त हुआ है दर्शन ज्ञान,
कर्मबन्ध से रहित शुद्ध जो बुद्ध! विशुद्ध! सुसिद्ध! महान।
जिसका ध्यान मिटा देता है, प्राणी के सब अशुभ विकार,
वही देव मम हृदय बसे नित, जो रहता है जग के पार ॥17॥

जिनवर की शरण पाऊँ

न स्पृश्यते कर्मकलंक दोषैर्,
यो ध्वान्त सङ्घैरिव तिग्मरश्मिं।
निरञ्जनं नित्य - मनेकमेकं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥18॥

: अन्वयार्थ :

ध्वान्त–सङ्घैः = अन्धकार समूह से, **तिग्म–रश्मि** = जैसे सूर्य स्पर्श नहीं होता, **इव** = उसी प्रकार, **यः** = जो, **कर्म– कलंक दोषैः** = कर्म कलंक और रागादि दोषों से, **न स्पृश्यते** = स्पर्श नहीं होता है, **निरञ्जनम्** = निरजंन, **नित्यम्** = नित्य, **अनेकम्** = अनेक और, **एकम्** = एक स्वरूप, **तं आप्त** = उस आप्त, **देवम्** = देव की, **(अहम्)** = मैं, **शरणम् प्रपद्ये** = शरण ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ

भावार्थ – जैसे सम्पूर्ण अंधकार का समूह भी सूर्य को स्पर्श नहीं कर सकता अर्थात् सूर्य अंधकार समूह से अस्पर्श है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म कलंक से रहित और रागादि दोष जिसे स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं, जो नित्य निरंजन स्वरूप है और जो एक रूप हो करके भी अनेक रूप में है मैं उन्हीं आप्त देव की शरण को प्राप्त होता हूँ।

पद्यानुवाद

घोर तम सूर्य की छू न पाता किरन्,
त्यों न कर्म कभी कर सकें तव वरन्।
नित्य एक अनेक निरंजन परम्,
प्राप्त होऊँ उन्हीं आप्त देव शरन् ॥18॥

सूर्य किरण को देख महातम कभी नहीं टिक सकता है,
वैसे जिन को देख कर्म अघ कभी नहीं छू सकता है।
जिनको नित्य–निरंजन–एकानेक कहें सब उनके गान,
ऐसे आप्तदेव की शरणा पाता हूँ, पाने कल्यान ॥18॥

आप्त की शरण में जाऊँ

विभासते यत्र मरीचिमाली,
न विद्यमाने भुवनावभासी।
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥19॥

: अन्वयार्थ :

भुवनावभासी = भुवन का प्रकाशक, **मरीचिमाली** = सूर्य, **यत्र** = जहाँ, (**तव**) = आपके, **विद्यमाने** = विद्यमान रहने पर, **न विभासते** = शोभा नहीं पाता, ऐसे अपने, **स्वात्म–स्थितम्** = आत्म स्वरूप में स्थित, **बोधमय प्रकाशम्** = ज्ञानमय प्रकाश वाले, **तं आप्तं** = उस आप्त, **देवम्** = देव की, (**अहम्**) = मैं, **शरणम् प्रपद्ये** = शरण ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ

भावार्थ – जिनेन्द्र देव के विद्यमान रहने पर भुवन प्रकाशक सूर्य शोभा नहीं पाता है, जो अपने आत्मा में स्थित है और ज्ञानमयी प्रकाश वाला है, मैं उन्हीं आप्त देव की शरण को प्राप्त होता हूँ।

पद्यानुवाद

भव प्रकाशित करे सूर्य आकर यहाँ,
आपके सामने शोभनीय कहाँ ?
ज्ञानमय ध्यानमय हे जिनेश्वर! परम्,
प्राप्त होता हूँ अब आप्त की मैं शरन् ॥19॥

तीन लोक के महा दिवाकर, सभी द्रव्य का करें बखान,
रहते हैं जो भव में लेकिन, भव बंधन का लेश न नाम।
थिर आतम में ज्ञानमयी जो, करते हैं चैतन्य प्रकाश,
उन भगवन् की शरण मिले नित रहूँ सदा चरणों के पास ॥19॥

अनंत की शरण पाऊँ

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं,
विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तं।
शुद्धं शिवं शान्त- मनाद्यनन्तं,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥20॥

: अन्वयार्थ :

यत्र = जिसके, **विलोक्यमाने** = अवलोकन, **सति** = करने पर, **इदम्–विश्वम्** = यह विश्व, **स्पष्टम्** = स्पष्ट रूप से, **विविक्तम्** = पृथक्–पृथक्, **विलोक्यते** = दिखाई देता है, **तं शुद्धम्** = उस शुद्ध, **शिवम्** = शिव, **शान्तम्** = शान्तस्वरूप और, **अनाद्यनन्तम्** = आदि अन्त से रहित, **आप्तम् देवम्** = आप्त देव की, (**अहम्**) = मैं, **शरणं प्रपद्ये** = शरण को प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ

भावार्थ – जिनके केवल दर्शनमें यह सारा विश्व स्पष्ट और पृथक्–पृथक दिखाई देता है, जो शुद्ध शान्त आदि अन्त रहित और शिव स्वरूप है, मैं उन्हीं आप्त देव की शरण को प्राप्त होता हूँ।

पद्यानुवाद

ज्ञान में लोक सारा झलकता दिखे,
साफ, मिलकर नहीं द्रव्य पर्यय दिखे।
आदि अंत नहीं शुद्ध शिव शांतमय,
प्राप्त होता हूँ उन देव की मैं शरन् ॥20॥

दर्पण सम अवलोकन करते, सारा विश्व झलकता ज्ञान,
दिखता है स्पष्ट एक से दूजा नहिं मिल करके जान।
शांत शुद्ध जो शिव स्वरूप मय, कहे अनादि और अनंत,
शरण मिले हमको उन प्रभु की, और न कुछ चाहूँ भगवंत ॥20॥

निर्दोष की शरण पाऊँ

येन क्षता मन्मथ-मान-मूर्च्छा,
विषाद-निद्रा-भय-शोक-चिन्ताः।
क्षतोऽनलेनेव तरुप्रपञ्चस्,
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥21॥

: अन्वयार्थ :

अनलेन = अग्नि के द्वारा, **तरु प्रपंचः** = वृक्षों का समूह, **क्षतः इव** = जैसे क्षय (भस्म) कर दिया जाता है उसी प्रकार, **येन** = जिसके द्वारा, **मन्मथ–मान–मूर्च्छा** = काम, मान, मूर्च्छा, **विषाद–निन्द्रा–भय** = विषाद, निद्रा, भय, **शोक– चिन्ताः** = शोक, चिन्ता आदि दोष, **क्षता** = क्षय कर दिये गये हैं, **तं आप्तं** = उस आप्त, **देवम्** = देव की, **(अहम्)** = मैं, **शरणम् प्रपद्ये** = शरण को प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ

भावार्थ – जिस प्रकार अग्नि के द्वारा वृक्षों का समूह क्षय को प्राप्त होता है। उसी प्रकार जिसके द्वारा काम, विकार, मान, मूर्छा, विषाद, निंद्रा, भय, शोक, और सर्व प्रकार की चिन्ताएँ नष्ट कर दी गयी हैं मैं उसी आप्त देव की शरण को प्राप्त होता हूँ।

पद्यानुवाद

वन की अग्नि मिटाती सभी वृक्ष को,
त्यों मिटाये सभी शोक-भय अक्ष को।
काम मूर्छा न निद्रा तुम्हें व्याप्त है,
उनकी मैं हूँ शरण जो महां आप्त है ॥21॥

वृक्षकतार नहीं रहती है, जैसे अग्नि लपट के आन,
वैसे इन्द्रिय–मान–शोक–भय निद्रा सबने किए प्रयाण।
चिंता–मूर्छा औ विषाद भय, मन्मथ जिससे दूर रहें,
उसी देवकी शरणा पाकर, हम सब मुक्ति मार्ग लहें ॥21॥

आत्मानुभव सर्वोच्चासन

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी,
विधानतो नो फलको विनिर्मितः।
यतो निरस्ताक्ष कषाय-विद्विषः,
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः ॥22॥

: अन्वयार्थ :

विधानतः = विधान रूप से समाधि का साधन, **न संस्तरोऽश्मा** = न संस्तर (आसन) है, न पाषाण है, **न तृणम्** = न तृण पुञ्ज है, **न मेदिनी** = न पृथ्वी है और, **विनिर्मितः** = न ही बनाया गया, **फलकः** = काष्ठ का फलक (चौकी पाटा) ही है, **यतः** = क्योंकि, **सुधीभिः** = बुद्धिमानों के द्वारा, **निरस्ताक्षकषाय** = विषय कषाय रूपी, **विद्विषः** = शत्रुओं से रहित, **सुनिर्मलः** = निर्मल, आत्मा, **एव** = आत्मा ही (ध्यान का आसन), **मतः** = माना गया है।

भावार्थ

भावार्थ – ध्यान का आसन न संस्तर है, न पाषाण है न तृण है, न भूमि है और न काष्ठ फलक (चौकी/पाटा, तख्त) हैं किन्तु जिसके अन्दर से विषय कषाय रूपी शत्रु दूर हो गये हैं ऐसी निर्मल आत्मा को ज्ञानी जनों ने ध्यान का आसन माना है।

पद्यानुवाद

भूमि चौकी शिला घास आसन नहीं,
आपको भासने के ये साधन नहीं।
जिससे शुद्धात्म को जानते हैं सुधी,
उसको निर्मल शुभासन कहें बुद्ध धी।।22।।

घास, शिला हो अथवा चौकी, यही शुभासन नहीं विधान,
जिससे आतम अनुभव होता, वही शुद्ध निज आसन मान।
इन्द्रिय और कषायें जिससे, शांत रहें, हों निर्मल भाव,
ज्ञानीजन को वही शुभासन, जिसमें मिलता स्वयं स्वभाव ॥22॥

अहर्निश अध्यात्मरत हो

न संस्तरो भद्र! समाधिसाधनं,
न लोकपूजा न च संघमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं,
विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम् ॥23॥

: अन्वयार्थ :

भद्र! = हे भद्र!, **यतः** = क्योंकि, **न संस्तर** = न संस्तर (आसन), **न लोक–पूजा** = न लोक पूजा, **न च** = और न, **संघ–मेलनम्** = संघ सम्मेलन, **समाधि–साधनम्** = समाधि के साधन हैं, **ततः** = इसलिए, **सर्वामपि** = सर्व ही, **बाह्य वासनाम्** = बाहरी वासनाओं को, **विमुच्य** = छोड़कर, **अनिशम्** = निरन्तर, **अध्यात्मरतः** = अध्यात्म में निरंत रहो।

भावार्थ

भावार्थ – हे भद्र परिणामी आत्मन्! समाधि का साधन निश्चय से न संस्तर है, न लोक पूजा है और न संघ समूह है इसलिए सभी बाह्य वासनाओं को छोड़कर अपने आध्यात्म में निरन्तर लीन रहो।

पद्यानुवाद

लोक पूजा न आसन न संघ परम्,
ये न अध्यात्म है, है न मूल धरम्।
लीन हो आपमें, वासना छोड़ दे,
आपको आपमें आपसे जोड़ ले ॥23॥

आसन–पूजा–साधु–संगति, नहीं समाधी के साधन,
ये सब प्रथा कही जिनवर ने नहीं वास्तविक हैं साधन।
बाह्य वासना छोड़ सभी अब, अध्यातम में रहो विलीन,
भद्र! समाधि भाव सजाकर, रहो नहीं इस भव में दीन ॥23॥

लीन रहो आतम में

न सन्ति बाह्या मम केचनार्थाः,
भवामि तेषां न कादचनाहम्।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥24॥

: अन्वयार्थ :

केचन बाह्या = कोई भी बाहरी, **अर्थाः** = पदार्थ, **मम** = मेरे, न सन्ति = नहीं हैं, **अहम् (अपि)** = मैं भी, **तेषाम्** = उनका, **न कदाचन** = कदापि नहीं, **भवामि** = हूँ, **इत्थम्** = इस प्रकार, **विनिश्चित्य** = दृढ़ निश्चय करके, **बाह्यं विमुच्य** = बाह्य से सम्पर्क छोड़कर, **भद्र! मुक्त्यै** = हे भद्र! मुक्ति के लिए, **त्वम् सदा** = तुम सदा, **स्वस्थः भव** = अपनी आत्मा में स्थिर रहो।

भावार्थ

भावार्थ – कोई भी बाह्य पदार्थ मेरा नहीं है और न मैं कभी उनका हुआ हूँ ऐसा दृढ़ निश्चय कर हे भद्र पुरुष! बाह्य वस्तुओं को छोड़कर तुम मुक्ति प्राप्ति के लिये सदा अपनी आत्मा में स्थिर रहो।

पद्यानुवाद

रंच भी बाहरी वस्तु मेरी नहीं,
वो न मेरी कभी उनका मैं भी नहीं।
जान यों छोड़ तू दृढ़ परम् भाव कर,
स्वस्थ हो जा स्वयं मुक्ति का चाव कर।।24।।

बाह्य वस्तुएँ नहीं हमारी, ये सब पुद्गल, मैं हूँ ज्ञान,
उसी भाँति उनका नहिं मैं हूँ, ये सब कर्मों की गति जान।
छोड़ सभी बाहर आडम्बर, पाना है यदि मुक्तीधाम,
हो जा भद्र! स्वस्थ तू निज में, सदा स्वयं में कर विश्राम ॥24॥

निज में निज से वरो समाधि

आत्मान - मात्मन्यवलोकमानस्,
त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र-
स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम्।।25।।

: अन्वयार्थ :

आत्मानम् = आत्मा को, **आत्मनि** = आत्मा में, **अवलोकमानः** = साक्षात् करते हुए, **त्वम्** = तुम, **दर्शनज्ञानमयः** = (अनन्त) दर्शन ज्ञानमय, **विशुद्धः** = विशुद्ध हो, **खलु** = निश्चय से, **यत्र तत्र अपि** = जहाँ कहीं भी, **स्थितः** = स्थित, **एकाग्रचित्तः** = एकाग्रचित्त, **साधुः** = साधु, **समाधिम्** = समाधि को, **लभते** = प्राप्त करता है।

भावार्थ

भावार्थ – हे आत्मन्! तू अपनी आत्मा में अपने आप का अवलोकन कर क्योंकि अनंत दर्शन – ज्ञानमयी और विशुद्ध स्वभाव वाली आत्मा को एकाग्र चित्त होकर साधु जन जहाँ कहीं भी स्थित होकर समाधि को प्राप्त कर लेते हैं।

पद्यानुवाद

आपमें आपको आपसे जानकर,
ज्ञान दर्शन परम् ज्ञान में भानकर।
साधुजन चित्त थिर करके पाते तुम्हें,
हे प्रभो! शुद्ध कर दो समाधि हमें ॥25॥

निज को निज में निज के द्वारा, अवलोकन करि जाना है,
दर्शन–ज्ञानमयी हो तुमने, शुद्ध किया निज बाना है।
निश्चय से एकाग्र चित्त हो, साधू थिर हो जाते हैं,
तुमको पाकर स्वयं समाधि लीन हुए शिव पाते हैं ॥25॥

शुद्ध मैं ही हूँ शाश्वत

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा,
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता,
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥26॥

: अन्वयार्थ :

मम आत्मा = मेरी आत्मा, **सदा एकः** = सदा एकाकी, **शाश्वतिकः** = शाश्वत, **विनिर्मलः** = निर्मल, **साधिगम–स्वभावः** = अधिगम (ज्ञान) स्वभाव से युक्त है, **अपरे** = अन्य, **समस्ता** = सभी, **बहिर्भवाः** = बाहरी पदार्थ, **कर्मभवाः** = कर्म जनित हैं (और वे), **स्वकीयाः** = अपने, **शाश्वताः** = शाश्वत, **न सन्ति** = नहीं हैं।

भावार्थ

भावार्थ – मेरी आत्मा सदा शाश्वत और नित्य स्वरूप है कर्म मलों से रहित और ज्ञान स्वभावी है और इसके अलावा जितने भी बाहरी पदार्थ राग द्वेषादि हैं वे सब कर्म जनित हैं एवं नश्वर हैं, विनाशीक हैं।

पद्यानुवाद

एक आतम मेरी है अकेली सदा,
ज्ञानमय है विमल, अन्यथा ना कदा।
कर्म से मिल रहीं बाहरी वस्तुएँ,
छोड़ दे सब यहाँ, ये न शाश्वत कहे।।26।।

आतम मेरी एक विनिर्मल शाश्वत सदा स्वभाव स्वरूप,
सत्यज्ञानमय, परिवर्तन बिन, कर्म स्वरूप नहीं भवकूप।
बाहर में जो भी हैं वस्तुएँ, वे सब यहाँ विनाशक जान,
कर्मों से उत्पन्न यहाँ पर निज को शाश्वत निज में मान ॥26॥

शरीर पर, तो सब पर

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं,
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः,
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये।।27।।

: अन्वयार्थ :

यस्य = जिसका, **वपुषा अपि** = शरीर के भी, **सार्द्धम्** = साथ, **न एक्यम्** = एक्य नहीं है, **तस्य** = उसका, **पुत्र–कलत्र–मित्रै** = पुत्र, स्त्री और मित्रों के साथ, किम् (एक्यम्) **अस्ति** = एक्य कैसे सम्भव है?, **चर्मणि** = चर्म के, **पृथक् कृते** = पृथक् कर देने पर, **शरीर मध्ये** = शरीर के मध्य में, **रोम–कूपाः** = रोम कूप, **हि** = निश्चय से, **कुतः तिष्ठन्ति** = कैसे रहेंगे?

भावार्थ

भावार्थ – जिसका शरीर के साथ भी एक्य नहीं है फिर उसका पुत्र, स्त्री और मित्रों के साथ एक्य कैसे संभव है। चर्म को पृथक् कर देने पर फिर उसमें संबंधित रोम कूप अलग ही हो जाते हैं ये माँसादि से लगे नहीं रहते क्योंकि वे चर्म में ही होते हैं।

पद्यानुवाद

देह के साथ भी एकता है कहाँ?
पुत्र आदिक मिलें फिर स्वयं से कहाँ ?
चर्म तन से हटे रोम कैसे रहें ?
तन हमारा नहीं, पर, स्व कैसे कहें ? ॥27॥

नहीं एकता जब इस तन से, आतम की हो पाई है,
तो फिर पुत्र कलत्र मित्र से, चेतन कब मिल पाई है।
ज्यों ही चमड़ी अलग करें तन, रोम छिद्र फिर रहें कहाँ?,
त्यों ही छूटे चेतन, तन से, तो फिर पुत्र कलत्र कहाँ? ॥27॥

संयोग तज, तादात्म्य पाओ

संयोगतो दुःखमनेकभेदं,
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो -
यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥28॥

: अन्वयार्थ :

यतः = क्योंकि, **शरीरी** = प्राणी, **जन्म–वने** = संसार रूपी वन में, **संयोगतः** = संयोग के कारण, **अनेक भेदम्** = अनेक प्रकार के, **दुःखम् अश्नुते** = दुःख को पाता है, **ततः** = इसीलिए, **आत्मनीनाम्** = अपनी कल्याणकारिणी, **निवृतिम्** = निर्वृति (मुक्ति) को, **वियासुना** = प्राप्त करने की इच्छा वाले पुरुष को, **असौ** = वह संयोग, **त्रिधा** = तीनों प्रकार से, **परिवर्जनीय** = परित्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ

भावार्थ – बाह्य पदार्थों के संयोग से अर्थात् उनमें ममत्व भाव स्थापित करने से ही प्राणी भव वन में अनेक प्रकार के दुःखों को प्राप्त होता है। इसलिए मुक्ति के इच्छुक भव्यों को वह संयोग मन, वचन, काय से अवश्य ही छोड़ देना चाहिए।

पद्यानुवाद

जीव पाता है पर वस्तु के भोग से,
घोर वन में गहन दुःख संयोग से।
चाहते मुक्ति तो छोड़ दे वस्तु को,
मन वचन काय तज, जान ले आपको।।28।।

भव में तन को धारण करके, करता बाह्य वस्तु संयोग,
दुःख अनेक उठाता जिससे, कर नहिं पाता, चेतन भोग।
मुक्ति महल को पाना है यदि त्रय योगों से कर दो त्याग,
बाह्य त्याग कर, निज आतम में, परमातम सा बनता पाग ॥28॥

परम तत्त्व में रहो विलीन

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं,
संसार-कान्तार निपातहेतुम्।
विविक्तमात्मान - मवेक्षमाणो -
निलीयसे त्वं परमात्म तत्त्वे ॥29॥

: अन्वयार्थ :

संसार–कान्तार = संसार रूपी वन में, **निपात हेतुम्** = पतन के कारणभूत, **सर्वम्** = सभी, **विकल्प–जालम्** = विकल्प जाल को, **निराकृत्य** = हटा करके, **विविक्तम्** = एक मात्र, **आत्मानम्** = आत्मा को, **अवेक्षमाणः** = देखते हुए, **त्वम्** = तुम, **परमात्म–तत्त्वे** = परमात्म–तत्त्व में, **निलीयसे** = लीन रहो।

भावार्थ

भावार्थ – भव वन में भ्रमण कराने वाले सर्व विकल्प जाल को दूर करके एक मात्र सबसे भिन्न अपनी आत्मा को देखते हुए हे आत्मन्! तुम परमात्म तत्त्व में लीन रहो।

पद्यानुवाद

जल्प संसार के छोड़ दे सब यहाँ,
ये पतन हेतु हैं हो सजग तू जहां।
जानकर चेतना, आपको जान तू,
लीन होकर स्वयं आपको भान तू ॥29॥

सभी विकल्पों को तजकर तुम अपनी आतम को देखो,
भव वन भटकन के जल्पों को छोड़ स्वयं को नित लेखो।
देह विकल्प भ्रमण का हेतु, करो विलग अपने को जान,
परमातम के तत्त्व लीन हो, पाओ तुम चेतनमय ज्ञान ॥29॥

स्वयं ही कर्म का कर्त्ता व भोक्ता

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थक तदा ॥30॥

: अन्वयार्थ :

आत्मना = अपने द्वारा, **पुरा** = पहिले, **यत् कर्म** = जो कर्म, **स्वयं कृतम्** = स्वयं किये गए हैं, **तदीयम्** = उनका, **शुभाशुभम् फलम्** = शुभ और अशुभ फल, **स्फुटं** = स्पष्ट रूप से, **लभते** = प्राप्त होता है, **तदा** = तब, **स्वयं कृतं कर्म** = स्वयं के किये गए कर्म, **निरर्थकम्** = निरर्थक हो जावेंगे।

भावार्थ

भावार्थ – हे आत्मन्! जिस जीव ने पूर्व काल में अच्छे या बुरे कर्म स्वयं किये हैं वह उसी प्रकार के अच्छे या बुरे फल को प्राप्त होता है। यदि कोई दूसरों के द्वारा किये गये शुभ या अशुभ फल को प्राप्त होने लगे तो फिर अपने किये कर्म निरर्थक हो जावेगें, किन्तु ऐसा कभी होता नहीं है।

पद्यानुवाद

पूर्व में कर्म जैसा किया फल मिला,
ये अटल है नियम जो कभी ना टला।
दूसरों के करम का मिले फल हमें,
कर्म मेरा गया व्यर्थ तो यूँ कहें।।30।।

भाव शुभाशुभ करि आतम ने पूरब में जो कर्म किए,
वैसे फल शुभ और अशुभमय प्राणी ने खुद भोग किए।
अगर दूसरों की करनी का फल पर को मिल जाए तो,
करनी का अस्तित्व यहाँ पर सभी स्वयं खो जाए तो ॥30॥

अपना किया मिलता है

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो,
न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन।
विचारयन्नेव - मनन्यमानसः,
परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम् ॥31॥

: अन्वयार्थ :

निजार्जितम् = अपने उपार्जित, **कर्म विहाय** = कर्म के सिवाय, **कोऽपि** = कोई भी अन्य पुरुष, **कस्यापि देहिनः** = किसी भी प्राणी को, **किञ्चन** = कुछ भी, **न ददाति** = नहीं देता है, **एवम्** = ऐसा, **विचारयन्** = विचारते हुए, **(आत्मन्!)** = हे आत्मन्!, **परः ददाति** = दूसरा कोई देता है, **इति** = इस प्रकार की, **शेमुषीम् विमुञ्च** = बुद्धि को छोड़, **अनन्य मानसः** = एकाग्रचित्त हो।

भावार्थ

भावार्थ – अपने उपार्जित कर्मों के अलावा कोई भी प्राणी किसी का सुख या दुःख नहीं देता है ऐसा विचार करा हे आत्मन्! तू एकाग्र चित्त हो और दूसरा कुछ देता है इस बुद्धि को छोड़ कर इस प्रकार विचार करने से किसी के प्रति रागद्वेष नहीं होता है।

पद्यानुवाद

दूसरों को न कुछ कोई देता कभी,
कर्मफल पा रहे हैं स्वयं का सभी।
छोड़ तू अब अहं राग-द्वेष तजो,
चित्त एकाग्र कर चेतना को भजो ॥31॥

स्वयं उपार्जित कर्म फलों को पाते हैं भव जीव सभी,
कोइ किसी को कुछ देता है ऐसा मानो नहीं कभी।
समझ के ऐसा एकचित्त हो, मन से भिन्न स्वयं को जान,
पर कुछ देता छोड़ बुद्धि यह, अपने को भीतर पहिचान ॥31॥

सामायिक से प्राप्त मुक्ति

यैः परमात्मामितगति वन्द्यः
सर्वविविक्तो भृश - मनवद्यः।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते,
मुक्तिनिकेतं विभववरं ते ॥32॥

: अन्वयार्थ :

यैः = जिन पुरुषों द्वारा, **अमित–गति–वन्द्यः** = अपरिमित ज्ञान वाले होने से (अथवा अमितगति द्वारा) वन्दनीय है, **सर्व–विविक्तः** = जो सर्व कर्म विमुक्त है, **भृशम् अनवद्यः** = अत्यंत निर्दोष है, **परमात्मा** = ऐसा परमात्मा, **मानसि** = मन में, **शश्वत्** = निरन्तर, **अधीतः** = चिन्तन किया गया है, **ते** = वे, **विभव–वरम्** = परम वैभव वाले, **मुक्ति–निकेतम्** = मुक्ति रूपी महल को, **लभन्ते** = प्राप्त होते हैं।

भावार्थ

भावार्थ – जो परमात्मा अपरिमित ज्ञानी है अथवा अमितगति आचार्य के द्वारा वंदनीय है सर्व पदार्थ से भिन्न है और पूर्ण निर्दोष है उनका जो निरन्तर मन से चिन्तन करते हैं वे भाग्यशाली सर्वश्रेष्ठ वैभव वाले मोक्ष महल को प्राप्त करते हैं।

पद्यानुवाद

कर्म बिन जो महां आतमा हैं परम्,
वंदनीय सभी भव्य से जो स्वयम्।
ध्यानमय हो स्वयं चित्त जो लायेगा,
वो अमितगति यहाँ मुक्ति को पायेगा।।32।।

सबसे विलग कहा परमातम, सूरि अमितगति करें नमन्,
सभी भाँति परमात्म सर्वदा, अमन, अवद्य, रहित बंधन्।।
मन से उसको ध्याता है जो, उत्तम वैभव पाता है,
मुक्ति निकेतन को अपनाकर, शाश्वत सुख रम जाता है॥32॥

उपसंहार

इति द्वात्रिंशतावृत्तैः, परमात्मानमीक्षते।।
योऽनन्यगत चेतस्को, यात्यसौ पदमव्ययम् ॥33॥

: अन्वयार्थ :

यः = जो, **अनन्य–गत–चेतस्कः** = एकाग्रचित्त होकर, **इति द्वात्रिंशता** = इन बत्तीस, **वृत्तैः** = पद्यों से, **परमात्मानम्** = परमात्मा का, **ईक्षते** = दर्शन करता है, **असौ** = वह, **अव्ययम्** = अविनाशी, **पदम्** = (शिव) पद को, **याति** = प्राप्त होता है।

इस प्रकार इन बत्तीस छंदों से जो एकाग्रचित्त होकर परमात्मा का चिंतन करता है वह अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।

एकाग्र चित्त निजकर समता समाता,
दात्रिंश पद्य पढ़के निजधाम जाता।
शाश्वत स्वभाव रमके परमात्म पाता,
बसुकर्म सत्व अपना खुद वो मिटाता॥

इन द्वात्रिंश सुपद्य को, पढ़ प्रभु करता ध्यान।
लखता वह भगवान को, लहे सुदर्शन ज्ञान।
योग रहित होता जभी, पाता मुक्ति धाम।
उस परमातम को सदा, करू 'विनम्र' प्रणाम ॥33॥

शुभाशीर्वाद :

आगम पंथी हैं गुरो, तेरा पंथ न बीस।
गुरु 'विराग' पद में नमन्, पाने शुभ आशीष।।

लघु स्वयंभू स्तोत्र

येन स्वयं बोधमयेन लोका, आश्वासिताः केचन वित्तकार्ये।
प्रबोधिताः केचन मोक्ष – मार्गे, **तमादिनाथं** प्रणमामि नित्यम्।।1।।

इन्द्रादिभिः क्षीरसमुद्र – तोयैः,संस्नापितो मेरुगिरौ जिनेन्द्रः।
यः कामजेता जन–सौख्यकारी, तं शुद्ध–भावा–**दजितं** नमामि।।2।।

ध्यान–प्रबन्धः प्रभवेन येन, निहत्य कर्म – प्रकृतिः समस्ताः।
मुक्ति–स्वरूपां पदवीं प्रपेदे, तं **संभवं** नौमि महानुरागात्।।3।।

स्वप्ने यदीया जननी क्षपायां, गजादि वह्न्यन्तमिदं ददर्श।
यत्तात इत्याह गुरुः परोऽयं, नौमि प्रमोदा–**दभिनंदनं** तम्।।4।।

कुवादिवादं जयता महान्तं, नय प्रमाणै – र्वचनै – र्जगत्सु।
जैनं मतं विस्तरितं च येन, तं देवदेवं **सुमतिं** नमामि।।5।।

यस्यावतारे सति पितृधिष्ण्ये, ववर्ष रत्नानि हरे – र्निदेशात्।।
धनाधिपः षण्णव–मास पूर्वं, **पद्मप्रभं** तं प्रणमामि साधुम्।।6।

नरेन्द्र–सर्पेश्वर नाक – नाथैर्– वाणी भवन्ती जगृहे स्वचित्ते।
यस्यात्म–बोधः प्रथितः सभाया– महं **सुपार्श्वं** ननु तं नमामि।।7।।

सत्प्रातिहार्यातिशय – प्रपन्नो, गुण–प्रवीणो हत दोष संगः।
यो लोक–मोहान्ध–तमः प्रदीपश्, **चन्दप्रभं** तं प्रणमामि भावात्।।8।।

गुप्तित्रयं पंच महाव्रतानि, पंचोपदिष्टाः समितिश्च येन।
बभाण यो द्वादशधा तपांसि, तं **पुष्पदंतं** प्रणमामि देवम्।।9।।

ब्रह्मा–व्रतांतो जिन नायकेनोत्– तम क्षमादि – र्दशधापि धर्मः।
येन प्रयुक्तो व्रत – बंध – बुद्ध्या, तं **शीतलं** तीर्थकरं नमामि।।10।।

गणे जनानंदकरे धरान्ते, विध्वस्त–कोपे प्रशमैक– चित्तो।
यो द्वादशांगं श्रुतमादि–देश **श्रेयांसमानौमि** जिनं तमीशम्।।11।।

मुक्त्यंगनाया रचिता विशाला, रत्नत्रयी शेखारता च येन।
यत्कंठ – मासाद्य बभूव श्रेष्ठा, तं **वासुपूज्यं** प्रणमामि वेगात्।।12।।

ज्ञानी विवेकी परम–स्वरूपी, ध्यानी व्रती प्राणि – हितोपदेशी।
मिथ्यात्व – घाती शिवसौख्य भोजी, बभूव यस्तं **विमलं** नमामि।।13।।

आभ्यंतरं बाह्य – मनेकधा – यः, परिग्रहं सर्व – मपाचकार।
यो मार्ग– मुद्दिश्य हितं जनानां, वन्दे जिनं तं **प्रणमाम्यनंतम्**।।14।।

साद्र्धं पदार्था नव सप्त तत्त्वैः, पंचास्तिकायाश्च न काल कायाः।
षड्द्रव्य निर्णीति–रलोक युक्तिर्, येनोदिता तं प्रणमामि **धर्मम्**।।15।।

यश्चक्रवर्ती भुवि पञ्चमोऽभूच्, छ्री नंदनो द्वादशको गुणानाम्।
निधि प्रभुः षोडशको जिनेन्द्रस्, तं **शांतिनाथं** प्रणमामि भेदात् ।।16।।

प्रशंसितो यो न विभर्ति हर्षं, विराधितो यो न करोति रोषं।
शीलं-व्रताद् ब्रह्मपदं गतो यस्, तं **कुंथुनाथं** प्रणमामि हर्षात् ।।17।।

न संस्तुतो न प्रणतः सभायां, यः सेवितोऽन्तर्गण - पूरणाय।
पदच्युतैः केवलिभि - र्जिनस्य, देवाधिदेवं **प्रणमाम्यरं** तम्।।18।।

रत्नत्रयं पूर्व - भवान्तरे यो, व्रतं पवित्रं कृतवा - नशेषम्।
कायेन वाचा मनसा विशुद्ध्या, तं **मल्लिनाथं** प्रणमामि भक्त्या।।19।।

ब्रुवन्नमः सिद्ध-पदाय वाक्य- मित्यग्रहीद्यः स्वयमेव लोचम्।
लौकान्तिकेभ्यः स्तवनं निशम्य, वन्दे जिनेशं **मुनिसुव्रतं** तम्।।20।।

विद्यावते तीर्थकराय तस्मा- याहार दानं ददतो विशेषात्।
गृहे नृपस्या-जनि रत्नवृष्टिः,स्तौमि प्रमाणान्-नयतो **नमिं** तम्।।21।।

राजीमतीं यः प्रविहाय मोक्षे, स्थितिं चकारा - पुनरागमाय।
सर्वेषु जीवेषु दया दधानस्, तं **नेमिनाथं** प्रणमामि भक्त्या।।22।।

सर्पाधिराजः कमठारितो - यैर्, ध्यान स्थितस्यैव फणावितानैः।
यस्योपसर्गं निरवर्त - यत्तं, नमामि **पाश्र्वं** महदादरेण।।23।।

भवार्णवे जन्तु - समूहमेन माकर्षयामास - हि धर्मपोतात्।
मज्जन्त - मुद्वीक्ष्य य येन सापि- श्री **वर्द्धमानं** प्रणमाम्यहं तं ।।24।।

यो धर्मं दशधा करोति पुरुषः स्त्री वा कृतोपस्कृतं,
सर्वज्ञ - ध्वनि - संभवं त्रिकरण-व्यापार-शुद्ध्यानिशम्।
भव्यानां जयमालया विमलया पुष्पांजलिं दापयन्,
नित्यं स श्रियमातनोति सकलं स्वर्गापवर्ग-स्थितम्।।25।।

घर की मकान की अलग-अलग है पहिचान।
घर मन की पर्याय है ईंट पत्थर है मकान ।।

लोग कहते है कि दर्द बहुत बुरा होता है।
दर्द के बिना कौन आदमी खरा होता है।